DEV SANSKRITI: Interdisciplinary International Journal (2016), 7, 01-06

वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रिय भावना

इन्द्रेश 'पथिक'

सारांश

सामाजिक उत्कर्ष एवं समाज में सुख–समुन्नति हेतु जन–जन में राष्ट्रिय भावना होना आवश्यक है; क्योंकि राष्ट्रिय भावना से मुनष्य की आत्मीयता का दायरा बढ़ता है, जिससे उसकी संकीर्ण स्वार्थ–परता पर अंकुश लगता है। फलतः अपराध, अविश्वास, वैर, विद्वेष सभी समाप्त हो जाते हैं और वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के स्तर तक अपनी मान्यताओं को विस्तृत कर लेता है। वैदिक काल में ऐसा ही था, इसीलिए उस समय सर्वत्र सुख–शान्ति–समृद्धि के दर्शन होते थे। वैदिक काल में प्रत्येक मानव राष्ट्रिय भावना से ओत–प्रोत था। उस समय मनुष्य भौतिक प्रगति के साथ आत्मिक प्रगति को भी पर्याप्त महत्व देते थे। वस्तुतः वे समष्टि चिन्तन से ओत–प्रोत थे, इसी कारण वे राष्ट्रवादी थे। इस राष्ट्रभावना का मूल स्रोत वेद हैं। वेदों में प्रयुक्त राष्ट्र शब्द सम्पूर्ण भूमण्डल का प्रतिनिधित्व करता है। वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रिय भावना को जानने के लिए राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्ति जानना आवश्यक है। दीप्त्यर्थक राज् धातु से षकार संयुक्त होकर 'ष्ट्रन' प्रत्यय जुड़कर निष्पन्न 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ भूखण्ड, देश और जनपद होता है। उस देश की संस्कृति, सभ्यता, दर्शन, धर्म, तीर्थ, वन, पर्वत एवं नदियाँ आदि देश के अन्तर्गत ही स्वीकार किये जाते हैं। यद्यपि देश शब्द राष्ट्र का बोध कराता है, किन्तु देश और राष्ट्र के मूल अर्थ में कुछ वैभिन्य है। जहाँ गिरि, सागर, नदियों की भौतिक सीमा में आबद्ध भूखण्ड को देश कहते हैं, वहीं वह देश जब प्रशासनिक दृष्टि से भावना का द्योतक बनता है, उसमें सार्वभौमिकत्व, सार्वजनीनत्व एवं स्वातंत्र्य समाविष्ट हो जाता है, तब वही राष्ट्र कहा जाता है। चारों वेदों एवं अन्य वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रिय भावना का पर्याप्त रूपेण दर्शन होता है। तत्कालीन मानव सम्पूर्ण पृथ्वी को अपनी माता तथा स्वयं को पृथ्वी का पुत्र मानता था, इसी विस्तृत चिन्तन के साथ व्यवहार करते हुए वह प्रत्येक प्राणी के साथ भाई–चारे की भावना से युक्त था। अतः उस समय सर्वत्र शान्ति विराजमान थी। आज के आपाधापी एवं संकीर्ण स्वार्थपरता के युग में वैदिक कालीन राष्ट्रिय भावना सर्वथा प्रासंगिक है। इसी भावना के अवधारण से मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य बन सकता है, जिससे मानवोचित जीवन जीकर वह न केवल सृष्टि का मुकुट मणि बनकर सबका मार्गदर्शक बनेगा वरन् सम्पूर्ण धरा पर शान्ति की स्थापना में भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

कूट शब्द : राष्ट्रभावना, विश्वबन्धुत्व, विश्वकुटुम्ब, वैदिक वाङ्मय एवं वैदिक राष्ट्र।

इन दिनों हम जिस समय में रह रहे हैं, वह इतिहास का आश्चर्यजनक और निर्णायक काल है। असाधारण भौतिक प्रगति से अनेक सुविधाएँ उत्पन्न हुई हैं, किन्तु मानव का संकीर्ण चिन्तन पहले से अधिक बढ़ गया है। वैज्ञानिकों के भौतिक अन्वेषणों से सम्पूर्ण विश्व एक गाँव की तरह हो गया है। परन्तु देश के सदस्यों में आत्मीयता, निकटता समाप्त–प्राय सी दीखती है। राष्ट्रिय दशा में साम्प्रदायिकता की, जातीय विद्वेष की, भ्रष्टाचार की तथा आतंकवाद की समस्याएँ दिखाई पड़ती हैं। देश की एकता और अखण्डता दिखाई नहीं पड़ती। अन्ताराष्ट्रिय विकसित देशों के शोषण–मूलक आर्थिक–साम्राज्यवाद से, आधुनिक शस्त्रों को बढ़ाने की अभिलाषा से, गरीबी और भुखमरी से विश्वशान्ति स्वप्नवत् हो गई है।

वेद ईश्वर की वाणी है। चूँकि वेद अपौरूषेय हैं, मनुष्यकृत नहीं हैं, इसी कारण संसार की रचना के क्रम में सृष्टि के प्राणियों व मनुष्य के सकुशल जीवनयापन हेतु परमात्मा ने वह सम्पूर्ण ज्ञान समाहित कर मनुष्य के समक्ष प्रकट किया। यही ज्ञान राशि वेद कहलाई, जिसमें संसार के हर विषय का ज्ञान बीज रूप से समाविष्ट है। स्मृतिकार ने इसी की महत्ता में कहा है– सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति। अस्तु वैदिक ज्ञान से ही सम्पूर्ण विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान संभव है। इसी वैदिक ज्ञान से वैदिक जन सम्पूर्ण पृथ्वी को अपना परिवार मानते थे। वास्तव में वे समष्टि चिन्तन युक्त थे। वैदिक राष्ट्र भावना सबके लिए अनुकरणीय थी। वेदों में प्रयुक्त राष्ट्र शब्द सम्पूर्ण भूमण्डल का प्रतिनिधित्व करता था। वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रिय भावना के वर्णन से पूर्व राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्ति पर दृष्टिपात करते हैं।

राष्ट्र शब्द का अर्थ

दीप्त्यर्थकाद्राज् धातोःष्ट्रन प्रत्यय योगेन निष्पन्नः राष्ट्रशब्दः जनपदः / अर्थात् दीप्त्यर्थक राज् धातु से षकार होकर ष्ट्रन प्रत्यय के संयोग से राष्ट्र शब्द निष्पन्न होता है (पाणिनि, 8/2/36; तर्क वाचस्पति, वि0 सं0 2046, पृ. 4807; देव, 1987, पृ. 158; विवेकानन्द, 1995, पृ. 7; आप्टे, 1986, पृ. 526)। जिसका अर्थ जनपद, देश और भूखण्ड भी होता है। उसकी संस्कृति, सभ्यता, धर्म, दर्शन, तीर्थ, नदी, वन, पर्वत आदि देशान्तर्गत माने जाते हैं। यहाँ देश शब्द राष्ट्र बोधक है; किन्तु देश और राष्ट्र में थोड़ा

अन्तर है। समुद्र, पर्वत, नदियों की भौतिक सीमा में आवृत भूखण्ड देश कहलाता है। जब वह देश प्रशासनिक दृष्टि से भावना का प्रतीक बनता है, उसमें स्वतंत्रता, सार्वभौमिकता एवं सार्वजनीनता समाविष्ट होती है, तब वह राष्ट्र कहलाता है। देश शब्द सामान्यार्थ वाचक है, जबकि राष्ट्र शब्द विशिष्टार्थ वाचक है (विवेकानन्द, 1995, पृ. 7, 44, 45, 47)। जब 'राष्ट्र' शब्द 'विश्व' विशेषण से युक्त होता है, तब वह विश्वराष्ट्र कहलाता है।

वैदिक वाङ्मय में विश्वराष्ट्र की उदात्त अवधारणा

वैदिक कालीन राष्ट्र वस्तुतः विश्वराष्ट्र था। जो आज की राष्ट्र सम्बन्धी मान्यता से एकदम पृथक् था। वर्तमान में राष्ट्र सम्बन्धी मान्यता वैदिक कालीन राष्ट्र सम्बन्धी मान्यता से इस अर्थ में भिन्न है कि इन दिनों राष्ट्र से अभिप्राय उसके सीमाबद्ध भूखण्ड अथवा देश से है, जहाँ हम निवास करते हैं; किन्तु वैदिकराष्ट्र भौगोलिक सीमा में आबद्ध नहीं होता था। अतः वैदिक राष्ट्रवाद एक प्रकार से भूमिवाद है (धर्मपाल, 1995, पृ. 15)। स्पष्ट है कि वैदिक राष्ट्र की सीमा अति विस्तृत थी, सम्पूर्ण भूमण्डल तक फैला होने के कारण ही इसको विश्वराष्ट्र कहा जाता था। साथ ही प्राणिमात्र के प्रति उदात्त प्रेम भावना होने के कारण मानव प्रत्येक जीव से मित्रवत् व्यवहार करता था। इस विषय में प्रकाण्ड विद्वान् महावीर अग्रवाल जी लिखते हैं– 'लौकिक कवियों की कृतियों में अभिव्यञ्जित राष्ट्रियता में तथा वैदिक संहिताओं में अभिव्यञ्जित राष्ट्रियता में मौलिक अन्तर यह है कि लौकिक कवियों का राष्ट्र प्रेम अपने–अपने राज्यों अथवा देशों और स्वदेशीय प्रजा के कल्याण तक सीमित है, जबकि वैदिक संहिताओं का राष्ट्र प्रेम सम्पूर्ण वसुधा को और प्राणिमात्र को अपने आँचल में समेटे हुए है' (अग्रवाल, 1995, पृ. 37)।

विश्वराष्ट्र की वैदिक अवधारणा वस्तुतः बृहत् परिवार भावना पर आधृत है, जिसमें प्राणिमात्र के प्रति उदात्तता (उदार भावना) का समुचित समावेश है। साथ ही यह परिवार सम्पूर्ण विश्व तक ही नहीं द्यौ एवं अन्तरिक्ष तक विस्तृत है। इसीलिए वैदिक मानव अपने आपे का विस्तार करता हुआ सृष्टि के प्रत्येक प्राणी में अपनी ही आत्मा का दर्शन करता है। ऐसा करके वह कभी भ्रमित नहीं होता। यजुर्वेद में उल्लेख है– *'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति'* (यजुर्ववेद, 40/6)। अर्थात् व्यक्ति जब सभी भूतों (जड़–चैतन्य सृष्टि) को इस आत्म तत्त्व में ही स्थित अनुभव करता है तथा सभी भूतों के अन्दर इस आत्मतत्त्व को समाहित अनुभव करता है, तब वह किसी प्रकार भ्रमित नहीं होता (आचार्य, 1995, पृ. 40.1)।

वैदिक मानव पृथ्वी के सभी मानवों और सभी प्राणियों को मित्रतापूर्ण दृष्टि से देखता है तथा उनसे यह आशा भी रखता है कि वे भी मुझे मैत्री भाव से ही देखें। यजुर्वेद का यह मन्त्र द्रष्टव्य है– *'दृ ते दृ ᳬ ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'* (यजुर्वेद, 36/18)। अर्थात् हे परमात्मन्! आप हमें सामर्थ्यवान् बनाएँ। सभी प्राणी हमें मित्रभाव से देखें। हम सभी प्राणियों को मित्रभाव से देखते हैं। हम सभी (परस्पर) मित्रभाव से देखें (आचार्य, 1995, पृ. 36.3)।

मुंशीराम शर्मा के चिन्तन में भी विश्वराष्ट्र की अवधारणा परिवारवाद पर अवलम्बित है। उनकी दृष्टि में यह परिवारवाद और राष्ट्र वेद के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। उनका कथन है कि पृथ्वी पर उन सब में मिलकर विश्व बन्धुत्व का भाव स्थापित होना चाहिए। राष्ट्र और विश्व को व्याष्टि–समष्टि रूप में विवेचित करते हुए वे वैदिक राष्ट्रवाद को केवल सम्पूर्ण भूमण्डल तक ही नहीं वरन् द्यौ एवं अन्तरिक्ष पर्यन्त बताकर इसको सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर्यन्त स्वीकार करते हुए लिखते है– 'जो रूप राष्ट्र का है, वही विश्व का है। राष्ट्र में अनेक वर्ग और समाज होते हैं। विश्व में ऐसे ही अनेक राष्ट्र होते हैं। मानवता सबका मेरूदण्ड है। इसी हेतु वेद जहाँ राष्ट्र का नाम लेता है, वहाँ समग्र पृथ्वी या भूमि का भी उल्लेख करता है। जहाँ पृथ्वी का उल्लेख करता है, वहीं अन्तरिक्ष या द्यावा को जोड़कर समग्र विश्व को एकता के सूत्र में बाँध देता है। ... जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का चित्र उपस्थित होता है (शर्मा, 1998, पृ. 260–261)। यजुर्वेद के एक मंत्र में यही चित्र दृष्टिगोचर होता है, जिसमें पृथिवी, द्यौ, अन्तरिक्ष, आपः, ओषधियों, वनस्पतियों, देवों आदि सभी से शान्ति प्रदान करने की प्रार्थना की गई है, ताकि विश्व वसुधारूप सम्पूर्ण राष्ट्र में शान्ति स्थापित हो सके (यजुर्वेद, 36/17)।

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय विश्वराष्ट्र की उदात्त भावना से भरा पड़ा है। अखिल विश्व के सम्बन्ध में एक राष्ट्र की अवधारणा चारों वेदों में दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है कि वैदिक मानव राष्ट्रिय एकता और अखण्डता के सूत्र में आबद्ध होकर स्वयं को विश्वराष्ट्र का, विश्व कुटुम्ब का अंग मानता था। ऋग्वेद ने द्युलोक को पिता एवं पृथ्वी को माता स्वरूप मानकर पृथ्वी और द्युलोक को एक राष्ट्र के रूप में माना है (ऋग्वेद, 1/89/4; 1/191/6)। इसमें कहीं वरूण, कहीं इन्द्र और वरूण राष्ट्राधिपति उपन्यस्त हैं (ऋग्वेद, 10/124/5; 7/84/2)। यजुर्वेद के दसवें और बारहवें अध्याय में राष्ट्र सम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं, जिनसे विश्वराष्ट्र की भावना ध्वनित होती है। जैसे– हे मेघ! तुम राष्ट्र दाता हो, मेरा राष्ट्र प्रदान करो। हे जल समूह! आप ओजस्वी हैं, पराक्रमी हैं, राष्ट्र देने में समर्थ हैं (हमें राष्ट्र प्रदान करें) (यजुर्वेद, 10/2; 10/3; 10/4)। यहाँ राष्ट्र प्रदान करने से अभिप्राय राष्ट्रिय विश्वराष्ट्रिय भावना प्रदान करने के लिए देवता से प्रार्थना की गई है।

वैदिक राष्ट्रगीत

वेदों में केवल राष्ट्रिय भावना को स्पर्श करने वाले मंत्र ही हों ऐसा नहीं है, उनमें राष्ट्रभावना से ओत प्रोत करने वाले अनेक मन्त्र देखे जा सकते हैं। यजुर्वेद का एक मन्त्र तो वैदिक राष्ट्रगीत के रूप में मान्यता प्राप्त है, जिसमें ब्रह्मतेज सम्पन्न ब्राह्मणों की, पराक्रमी योद्धा क्षत्रियों की उत्पत्ति हेतु, दुधारू गौओं की नागरिकों को प्राप्ति हेतु, राष्ट्र में शीलवती–गुणवती स्त्रियों की, वीरों की विजय की, सभा में साधु स्वभाव के श्रेष्ठ वक्ताओं की, वीर युवकों की, समयानुसार जलवृष्टि की, फलों की, ओषधियों की, एवं अन्नोत्पादन से राष्ट्र समृद्धि हेतु सर्वत्र कुशल क्षेम की प्रार्थना की गई है– *'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आ राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढा नड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे– निकामे न पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ऽ ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो न कल्पताम्'* (यजुर्वेद, 22/22)।

अर्थात् हे ब्रह्मन्! इस राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस से सम्पन्न ब्राह्मण तथा पराक्रमी, धनुर्विद्या में कुशल, शत्रुजित महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। आशुगामी अश्व, भारवाही बैल, दुधारू गौएं नागरिकों को उपलब्ध हों। यहाँ की नारियाँ समस्त गुणों से सम्पन्न हों एवं शीलवती हों। रथी वीर एवं विजयशील हों। सभा में सज्जन स्वभाव के श्रेष्ठ वक्ता एवं वीरता से परिपूर्ण युवा हों। हमें यथेच्छ जल वृष्टि प्राप्त हो। हमारा राष्ट्र ओषधियों एवं अन्न से समृद्ध हो तथा वह सदैव सुरक्षित एवं सकुशल रहे (आचार्य, 1995, पृ0 22. 4)। सामवेद में मातृभूमि को देवीरूप और मंगलकारिणी मान कर उसको माता का सम्मान प्रदान किया गया है। इसमें इन्द्रदेव को कल्याणकारिणी पृथ्वी का पुत्र निरूपित करके पृथ्वी को मातृगौरव से अलंकृत किया गया है (सामवेद, 379; द्विवेदी, 1994, पृ. 121)। अथर्ववेद में अनेक मन्त्र राष्ट्र को समर्पित दिखाई पड़ते हैं, जिनमें सम्पूर्ण विश्व के एक राष्ट्र होने की प्रतीति होती है, साथ ही राष्ट्रिय भावना भी परिलक्षित होती है। जैसे– यह भूमि हमारी जन्मदात्री और माता है। रोहित (सूर्य) ने राष्ट्र को उच्च–उच्च अवस्थाएँ प्राप्त कराईं। वरूण देव हमें महान् राष्ट्र को प्रदान करें। हे राजन्! तुम ईश्वर प्रदत्त राष्ट्र के लिए तथा प्रजा रक्षण के लिए जागरूक होओ। वह ईश्वर राष्ट्र रक्षा के लिए तुम सबका कल्याण करे (अथर्ववेद, 6/120/2; 3/8/1; 13/1/9, 11, 15)।

कुछ विद्वान् अथर्ववेदीय भूमिसूक्त को वेद का राष्ट्रियगीत कहते हैं। इस भूमि सूक्त में भूमि के रूप में विश्वराष्ट्र की– आदर्श राष्ट्र की महिमा वर्णित है। आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति भूमिसूक्त के विषय में लिखते हैं– 'हमने वेद के इस भूमि सूक्त को राष्ट्रिय गीत नाम दिया है। ...इसमें पृथिवी के किसी विशेष देश या राष्ट्र का संकेत नहीं है। इसमें तो एक आदर्श राष्ट्र की कल्पना करके यह उपदेश दिया गया है कि राष्ट्र की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए राष्ट्र में क्या–क्या कुछ होना चाहिए। .. वेद की आन्तरिक प्रेरणा यही है कि धरती के सब मनुष्यों को, सारी धरती को ही अपनी मातृभूमि और उसके सब निवासियों को अपना भाई समझना चाहिए। वेद का यह भूमि सूक्त तो वास्तव में किसी एक विशेष देश का राष्ट्रिय गीत न होकर मानव का राष्ट्रगीत है।... असल में तो इस भूमि सूक्त को राष्ट्रियगीत न कहकर विश्वगीत कहना चाहिए' (वेद वाचस्पति, 1989, पृ. 96–97)।

अथर्ववेद के इस भूमिसूक्त में सम्पूर्ण भूमण्डल के मनुष्यों में गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से वैभिन्य होने पर भी परस्पर ऐक्य और सामञ्जस्य दर्शाया गया है; जो कि एक आदर्श राष्ट्र के लिए आवश्यक है। एक ही राष्ट्र में भौगोलिक और जलवायुगत कारणों से खान–पान, रहन–सहन अलग–अलग होता है, फिर भी वे एक राष्ट्र के ही सदस्य माने जाते हैं, उनकी राष्ट्रिय भावना और एकत्व भाव में कभी कोई कमी नहीं आती। वर्तमान में भारत को ही देखें, इस देश में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के विभिन्न प्रान्तों में कहीं बंगाली, असमिया, कहीं उड़िया, कहीं तमिल, तेलुगू, कन्नड़, कहीं पंजाबी, गुजराती, कहीं हिन्दी, कहीं गढ़वाली, कहीं कुमाऊँनी आदि भाषाएँ बोली जाती हैं, इसी प्रकार जलवायु की दृष्टि से कहीं का मुख्य भोजन गेहूँ, कहीं चावल कहीं कुछ और है, तथापि वे सभी एक राष्ट्र भारत के वासी होने में गौरव का अनुभव करते हुए बताते हैं कि हम मद्रासी, बंगाली, पंजाबी, गुजराती बाद में हैं, पहले हम हिन्दुस्तानी अर्थात् भारतवासी हैं। अथर्ववेद के भूमिसूक्त के इस मन्त्र में पृथ्वी के मनुष्यों में पारस्परिक ऐक्य ध्वनित करता यह मन्त्र द्रष्टव्य है– *'असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु। नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः'* (अथर्ववेद, 12/1/2)। अर्थात् हमारी जिस भूमि के मुनष्यों के मध्य (गुण, कर्म और स्वभाव की भिन्नता होने पर भी) परस्पर अत्यधिक सामंजस्य और ऐक्यभाव है, जो हमारी मातृभूमि रोगनाशक ओषधियों को धारण करती है, वह हमारी कामना पूर्ति और यशोवृद्धि का साधन बने (आचार्य, 1995, पृ. 1)।

एक श्रेष्ठ और आदर्श राष्ट्र में सुख–शान्ति तभी रह सकती है, जब उसमें पर्याप्त जल संसाधन, वृक्ष–वनस्पतियाँ अन्न, शाक आदि प्रचुर मात्रा में हों तथा जहाँ कृषक, शिल्पी, वैज्ञानिक और उद्यमी आदि संगठित होकर कार्य करते हों। वैदिक कालीन वैदिक राष्ट्र इसी प्रकार का था, जिसे बारम्बार मातृभूमि, पृथिवीमाता आदि कह कर सम्बोधित किया जाता था। यह वैदिक मंत्र इसी भाव को रेखांकित कर रहा है– *'यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः। यस्यामिदं जिन्वति प्राण देजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु'* (अथर्ववेद, 12/1/3)।। अर्थात् हमारी जिस मातृभूमि में सागर, महासागर, नद, नदी, नहर, झीलें–तालाब, कुएँ आदि जल साधन हैं; जहाँ सब भाँति के अन्न, फल तथा शाक आदि अत्यधिक मात्रा में पैदा होते हैं, जिसके

सभी प्राणी सुखी हैं, जिसमें कृषक लोग, शिल्प कर्म विशेषज्ञ तथा उद्यमी लोग अत्यधिक संगठित हैं, इस प्रकार की पृथ्वी माता हमें श्रेष्ठ भोग–पदार्थ और ऐश्वर्य प्रदान करने वाली हों (आचार्य, 1995, पृ. 1)।

केवल धन–धान्य से सम्पन्न होने से ही कोई राष्ट्र 'आदर्श' नहीं हो जाता वरन् उसमें निवास करने वालों में यदि तन्द्रा, आलस्य, अज्ञान आदि दुर्गुण हों, तो वे राष्ट्र को उन्नत नहीं होने देते। अस्तु इन दुर्गुणों से रहित ऐसे जागरूक, दिव्यगुण–सम्पन्नों (देवताओं) की भी आवश्यकता पड़ती है, जो सभी को निरन्तर सद्ज्ञान और वर्चस् प्रदान करते रहें। वैदिक काल में ऐसे ही अग्रणी देवता कहलाते थे – *'यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्। सा नो मधुप्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा'* (अथर्ववेद, 12/1/7)। अर्थात् निद्रा, तन्द्रा आलस्य अज्ञान आदि दुर्गुणों से रहित देवगण (देव पुरूष) जिस विशाल भूमि की, प्रमाद रहित होकर रक्षा करते हैं, वह मातृभूमि सभी उत्तम, प्रिय तथा कल्याणकारी पदार्थों से हमें सुसम्पन्न करे तथा हमें ज्ञान, वर्चस् और ऐश्वर्य प्रदान करे (आचार्य, 1995, पृ. 2)।

एक श्रेष्ठराष्ट्र में समाजऋण चुकाने वाले परिव्राजक एवं लोककल्याण निरत संन्यासी होने भी आवश्यक हैं, जो अपने पारिवारिक दायित्वों को हलका करके अथवा उनसे विरक्त होकर समाजऋण चुकाने के लिए समुद्यत होकर निरन्तर परिव्रज्या धर्म अपना कर देश में निरन्तर परिभ्रमण करते रह कर अपने अनुभवों और अर्जित ज्ञान से समाजोत्थान हेतु सदुपदेश करते रहें तभी राष्ट्र समुन्नत बनता है। वैदिक राष्ट्र में आश्रम व्यवस्था होने के कारण तृतीय और चतुर्थ आश्रम वानप्रस्थ और संन्यास में प्रवेश करके प्रत्येक मनुष्य सद्ज्ञान वितरण करता था। यही कारण था कि राष्ट्र धन की दृष्टि से समृद्ध और ज्ञान की दृष्टि से विवेकशील था– *'यस्यामापः परिचराः समानी रहो रात्रे अप्रमादं क्षरन्ति। सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा'* (अथर्ववेद, 12/1/9)। अर्थात् जिस धरा पर चारों ओर विचरने वाले परिव्राजक, संन्यासी शीतल जल की भाँति समदृष्टि सम्पन्न उपदेश देते हुए रात–दिन सजग होकर ज्ञान का संचार करते रहते हैं। जो भूमि हमें सभी प्रकार के अन्न–जल, दूध, घी इत्यादि प्रदान करती है, वह मातृभूमि हमारी तेजस्विता, प्रखरता को बढ़ाए (आचार्य, 1995, पृ. 2)। ऐसे ही पुरोहित संकल्प बद्ध होकर निरन्तर क्रियाशील रहते हैं और राष्ट्र को ऊँचा उठाते हैं। यजुर्वेद के एक मन्त्र में ध्वनित होती राष्ट्र भावना देखी जा सकती है– वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः (यजुर्ववेद, 9/23)। भाव यह है कि हम पुरोहितगण स्वयं जाग्रत् रहकर अपने राष्ट्र को भी जाग्रत् रखेंगे। जहाँ ऐसे निष्ठावान् कर्तव्यपरायण पुरोहित हों, वह राष्ट्र समुन्नत क्यों नहीं होगा?

वैश्विक संस्कृति– वैदिक संस्कृति

वैदिक विश्वराष्ट्र में एक ही संस्कृति थी– वैदिक संस्कृति, ऋषि संस्कृति, देव संस्कृति। जिसका जन्म तो भारत में हुआ, पर वह समूची विश्व–वसुधा में पहुँच गयी और विश्वव्यापी बन गयी। वैदिक संस्कृति वस्तुतः दैवीसंस्कृति रही है, जिसमें देने के भाव का प्राचुर्य है, जिसमें अपने लिए कम औरों के लिए अधिक समर्पण का भाव है। हमारे राष्ट्र की संस्कृति प्रथम प्रसूता तथा विश्ववारा है (शास्त्री, 2006, पृ. 104)। यजुर्वेद के एक मन्त्र में भी इस विश्वव्यापी संस्कृति का उल्लेख है– *'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'* (यजुर्वेद, 7/14)।

विश्वराष्ट्र की संस्कृति–मूल्यपरक संस्कृति

विश्वराष्ट्र की वैदिक संस्कृति मूल्यपरक संस्कृति रही है। जिसमें मानव एकाकी भोजन नहीं करता वरन् मित्र को भोजन देकर स्वयं उसे ग्रहण करता है। जो किसी और को भोजन कराये बिना स्वयं ग्रहण कर लेता है, वह श्रेष्ठ पुरुषों में गणनीय नहीं होता। एकाकी पुरूष को स्वादिष्ट भोजन अकेले नहीं खाना चाहिए (शास्त्री, 2006, पृ. 110)। ऋग्वेद के मन्त्रद्वय में मुखरित भाव इसी मूल्य परक संस्कृति के दर्शन कराता है– *'न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः। अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्'* (ऋग्वेद, 10/117/4)। तात्पर्य यह है कि अपने साथी के निकट आने पर भी जो मित्र अपने मित्र को अन्नदान नहीं करते, ऐसे कृपण को त्याग कर दूर चले जाना ही श्रेयस्कर है, उसका घर रहने योग्य नहीं है, अस्तु किसी श्रेष्ठ स्वामी के पास जाना ही उचित है।

इसी प्रकार ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में संकीर्णहृदय वाले मनुष्य का अन्न–धन प्राप्त करना निरर्थक और विषैला बताया गया है, साथ ही यह भी कहा गया है कि जो व्यक्ति न देवताओं को हवि प्रदान करते हैं, न बन्धुबान्धवों को प्रदान करते हैं तथा स्वयं अकेले अन्न–धन का भोग करते हैं, वे तो वस्तुतः पाप को ही ग्रहण करते हैं– *'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी'* (ऋग्वेद, 10/117/6)। इस प्रकार विश्वराष्ट्र में मूल्यपरक, उदारतापूर्ण संस्कृति विराजमान थी, जिससे सर्वत्र ममत्व और समत्व व्याप्त था। वैदिक मानव सम्पूर्ण भूमण्डल को अपनी माता तथा स्वयं को उसका पुत्र मानता था।

भूमि मेरी माता है, मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ

अथर्ववेद के भूमि–सूक्त में विविध विध मातृभूमि की विशेषताओं का वर्णन प्राप्त होता है। मातृभूमि का वैशिष्ट्य वर्णित करते हुए राष्ट्रभक्त कहता है कि यह वही मातृभूमि है, जिसमें हमारे पूर्वजों ने बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। देवताओं के द्वारा असुर पराजित हुए हैं। जिसमें अमृत तुल्य दूध देने वाली गौएँ, द्रुतगामी

घोड़े एवं अन्तरिक्ष में उन्मुक्त रूप से उड़ने वाले पक्षिगण निवास करते हैं। वह भूमि हमें तेजस्विता और ऐश्वर्य प्रदान करे (अथर्ववेद, 12/1/5)। भूमि सूक्त के ही एक मन्त्र में राष्ट्र भक्त ऋषि कहता है– मै पृथ्वी का पूत्र हूँ, पृथ्वी मेरी माता है, पर्जन्य हमारा पिता है (अथर्ववेद, 12/1/12)।

सशक्त राष्ट्र की सप्त महाशक्तियाँ

विश्वराष्ट्र की भावना से ओत–प्रोत इस सूक्त में केवल राष्ट्र–प्रार्थना ही विद्यमान नहीं है, वरन आदर्श राष्ट्र बनाने हेतु वे गुण और विशेषताएँ भी वर्णित हैं, जिनसे राष्ट्र सुखी और सशक्त बनता है। अथर्ववेद के भूमिसूक्त के प्रथम मन्त्र में सप्त महाशक्तियाँ वर्णित हैं। ये हैं– सत्य, ऋत, उग्र, दीक्षा, तप, ब्रह्म तथा यज्ञ। इनके व्यावहारिक स्वरूप को बताते हुए वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य अपने अथर्ववेद भाष्य में सत्य को 'सत्यनिष्ठा', ऋत को 'विस्तृत यथार्थ बोध', दीक्षा को 'दक्षता', उग्र को 'क्षात्रतेज', तप को 'तपश्चर्या', ब्रह्म को 'ब्रह्मज्ञान' और यज्ञ को 'त्याग–बलिदान' कहते हैं। उनकी दृष्टि में ये ही वे गुण अथवा शक्तियाँ हैं, जिनसे मातृभूमि पोषित होती है और राष्ट्र सशक्त बनता है (अथर्ववेद, 12/1/1; आचार्य, 1995, पृ.1)। आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति भी कहते हैं कि इन्हीं सप्त महाशक्तियों के आधार पर कोई राष्ट्र बनता, स्थिर होता, आगे बढ़ता और सर्वतोमुखी प्रगति करता है। हमारे राष्ट्र को यही शक्तियाँ धारण करती हैं (वेद वाचस्पति, 1989, पृ. 99)।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में राष्ट्रिय भावना प्रचुरतया उपलब्ध होती है। किन्तु वैदिक सन्दर्भ में राष्ट्र की अवधारणा संकुचित न होकर उदात्त है, जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावभूमि में विकसित हुई है। जिसमें सम्पूर्ण पृथ्वी के व्यक्ति, पशु, पक्षी, लताएँ वृक्ष भी हमारे पारिवारिक कुटुम्बी हैं। तत्कालीन मानव सम्पूर्ण पृथ्वी को अपनी माता तथा स्वयं को पृथ्वी का पुत्र मानता था। इस प्रकार विस्तृत चिन्तन से व्यवहार करते हुए, वह प्रत्येक प्राणी के प्रति भ्रातृभाव से युक्त था। अस्तु, उस समय सुख, शान्ति, समृद्धि आदि विराजमान थे। वैदिक कालीन राष्ट्रिय भावना आज भी प्रासंगिक है। प्रत्येक मानव को अपने हृदय में राष्ट्रिय भावना धारण करनी चाहिए, तभी वह पुनः अपने राष्ट्रीय गौरव और खोयी हुई सुख–शान्ति को प्राप्त कर सकेगा।

इन्द्रेश 'पथिक', पी–एच0डी0, एसोशिएट् प्रोफेसर, भाषा विभाग, संस्कृत अध्ययन केन्द्र, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार, भारत।

संदर्भ सूची

आचार्य, श्रीराम शर्मा (1995). *अथर्ववेद (भाष्य, भूमिसूक्त)* / हरिद्वार– ब्रह्मवर्चस।

आचार्य, श्रीराम शर्मा (1995). *यजुर्वेद (भाष्य)* / हरिद्वार– ब्रह्मवर्चस।

आप्टे, वामन शिवराम (1986). *वैदिक चिन्तन* / मेरठ– स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान।

अग्रवाल, महावीर (1995). *वैदिक संहिताओं में राष्ट्रियता* / स्वामी विवेकानन्द (सम्पादक) वैदिक चिन्तन। मेरठ– स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान।

वाचस्पति, तर्क तारानाथ (वि. स. 2046). *वाचस्पत्यम्* / वाराणसी– चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस।

द्विवेदी, कपिल देव (1994). *वेदामृतम् सामवेद* / वाराणसी– विश्व भारती अनुसन्धान परिषद्।

देव, राजा राधाकान्त (1987). *शब्द कल्पद्रुम* / दिल्ली– नाग पब्लिशर्स।

धर्मपाल (1995). *वैदिक संहिताओं में राष्ट्रियता* / (सं0 स्वामी विवेकानन्द) वैदिक चिन्तन। मेरठ– स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान।

विवेकानन्द, स्वामी (सम्पादक)(1995). *वैदिक चिन्तन* / मेरठ– स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान। *राष्ट्र शब्दो विशिष्टं भूभागं बोधयति यद्देशीयाः प्रजाः कयाचित् विशिष्ट शासन सरण्याशास्यन्ते* /

वेद वाचस्पति, प्रियव्रत (1989). *वेद का राष्ट्रिय गीत* / हरिद्वार– श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र।

शर्मा, मुंशीराम (1998). *वैदिक चिन्तामणि* / नई दिल्ली– यूनीवर्सिटी पब्लिकेशन।

शास्त्री, वेदप्रकाश (2006). *श्रुतिमंजरी* / दिल्ली– परिमल पब्लिकेशन।

ब्रश्चभ्रस्जसृज्मृज्यज्राज्भ्राजच्छ शांषः। **(पाणिनि, 8/2/36)**

तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौ **(ऋग्वेद, 1/89/4)**

द्यौर्वः पिता पृथिवी माता **(ऋग्वेद, 1/191/6)**

मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि **(ऋग्वेद, 10/124/5)**

युवो राष्ट्रं बृहदिन्वति द्यौः **(ऋग्वेद, 7/84/2)**

राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि **(यजुर्वेद, 10/2)**

ओजस्वती स्थ राष्ट्र दा राष्ट्रं मे दत्त **(यजुर्वेद, 10/3)**

ओम् द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि **(यजुर्वेद, 36/17)**

...विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मं दत्त **(यजुर्वेद, 10/4)**

...शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त **(यजुर्वेद, 10/4)**

देवी, जनित्री अजीजनत्, भद्रा जनित्री अजीजनत् **(सामवेद, 379)**

भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रम् **(अथर्ववेद, 6/12/2)**

आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीत **(अथर्ववेद, 13/1/15)**

अथास्मभ्यं वरूणो ... बृहद्राष्ट्रसंवेश्यं दधातु। **(अथर्ववेद, 3/8/1)**

विधि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य **(अथर्ववेद, 13/1/9)**

स त्वा राष्ट्राय सुभ्रतं बिभर्तु **(अथर्ववेद, 13/1/11)**

यस्यां पूर्वेजना विचक्रिरे ... पृथिवी नो दधातु। **(अथर्ववेद, 12/1/5)**

माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथ्व्याः। पर्जन्यः पिता स उ न पिपर्तु **(अथर्ववेद, 12/1/12)**

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथ्वीं धारयन्ति। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नुरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु। **(अथर्वदेद, 12/1/1)**